P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-3* ISSUE-7* (Part-1) October- 2018
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

21वीं सदी में राजनीति और बाजारवाद

संगीता
शोधार्थी,
हिन्दी विभाग,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय,
रोहतक

सारांश

हर सामान और विचार को उत्पादक बनाकर बेचने की विचारधारा ही बाजारवाद है। 'बाजार' मूलतः फारसी भाषा का शब्द है, जिसका सामान्य अर्थ है – वह स्थान जहाँ सारे प्रकार के सामान उपलब्ध होते हैं। वहाँ बहुत–सी दुकानें हों। 'बाजार' से अभिप्राय ऐसे स्थान से भी लिया जाता है, जो मनुष्य एवं समाज को जरूरत की चीजें देता है यानी उपयोगी वस्तुओं के आदान–प्रदान के स्थान का नाम ही बाजार है।

''भूमंडलीकरण के वर्तमान दौर में बाजार ने अपनी यह परिभाषा बदल दी है। अब बाजार उपभोक्ता को संतुष्ट नहीं करता, बल्कि उसमें और अधिक असंतोष पैदा करता है। वह अब अवसर पहचान की जगह अवसर बनाता है और सही बाजार की पहचान करने की जगह नए बाजार बनाता है। बाजार अब लोगों की मनोवृत्ति का बारीक अध्ययन नहीं करता, बल्कि अपने उत्पाद के अनुरूप उसकी मनोवृत्ति बनाता है। अपने–अपने उत्पाद को सहजता से नहीं ज्यादा आक्रामकता से पेश करता है।''[1]

मुख्य शब्द : मनोवृत्ति, कठपुल्लि, विज्ञापन, उपभोक्तावाद, औद्योगिक क्रांति

प्रस्तावना

आज बाजार विश्व की मंडी में बदल चुका है। सामान व खाने की चीजों को आकर्षक रूप में दिखाकर मन को ललचाया जाता है। ग्राहक को बहकाकर उनसे पैसा लूटा जा रहा है। बाजार में सेवा और परोपकार के भाव से सामान बेचा जाता है, परंतु रंगीन चमकीली पन्नियों में पैक चीजें अपनी सच्चाई को छिपाकर व मिलावटी सामान को बढ़ावा देती है। जैसे –

हर चीज इन दिनों बहुत सुंदर बहुत आकर्षक दिखती है
रंगीन चमकीली पन्नियों में लिपटी हुई
बहुत लजीज जैसे तुरंत खाये जाने के लिए बनी हो
अपने अजर–अमर किस्म के डिब्बों में बंद[2]

बाजार का नियम है कि वह व्यक्ति की लालसाओं को बढ़ाता है। विवेक पर हावी होकर उसे अधिक से अधिक प्रयोग में लाने के लिए प्रवत्त करता है। बच्चों के खेलने का सामान प्लास्टिक की नकली बन्दूक, पिस्तौल और टैंकों को बनाकर मॉर्केट में उतारा जाता है। ये बच्चों के खिलौने अवश्य हैं, लेकिन एक तरफ हिंसक माहौल भी तैयार हो गया –

झूलाघरों का चलन तो उसके देखते–देखते ही शुरू हो चुका था
कुछ ही समय बाद उसने देखा कि खिलौनों का बाजार
प्लास्टिक की नकली बन्दूकों, मशीन गनों, पिस्तौलों, टैंकों जैसे खिलौनों से भर गया
बच्चों के अकेलेपन को एक नकली और हिंसक उत्तेजना[3]

कवि समाज की सच्चाई को उजागर करते हैं। वे आज के हालात पर कलम चलाकर भी सच को नहीं दिखा पा रहे हैं। इस फरेबी बाजार ने जनता को अपने मोहमाया जाल में फँसा लिया है। आज बाजार और भौतिक उत्पादों का बोलबाला है। व्यक्ति उस में खो गया है। केवल दिखावा और भौतिक स्तर को ऊँचा रखना ही समाज का मानदंड रह गया है –

और आज के हालात देख
मुझे तो यही लगता
असम्भव है कविता से भी
सच उगलवा लेना

तो फिर भाषाखोरों के
इस फरेबी बाजार में
क्या करे कवि ?
इतने दरख्त और कहीं
पत्ता तक नहीं खड़कता[4]

नैतिकता और मानवीयता जैसे शब्द बाजारवाद में कोई महत्व नहीं रखते हैं। बाजार लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए नहीं है, बल्कि उन्हे बढ़ावा देने में विश्वास रखता है। आज हर वस्तु आसानी से और जल्दी पाने की इच्छा से व्यक्ति को बाजार की ओर धकेलती है। औद्योगिक और विज्ञापन की इस सदी में व्यक्ति को आराम से मिटाया जा सकता है, बाजार का फलक काफी बड़ा है –

जीवन के कुछ ऐसे शेयर थे
बाजार में
जो घाटे के थे लेकिन
खरीदे मैंने
लाभ के लिए नहीं दौड़ा मैं
मैं कंगाल हुआ और खुश हूँ[5]

उत्पाद के बढ़ने के साथ–साथ उद्योगों की संख्या भी काफी बढ़ने लगी है। सारा विश्व बाजार में तबदील हो गया है। लुभावने वाले विज्ञापन आदमी का मन ललचाकर बिना आवश्यकता की चीजों को भी खरीदने पर मजबूर कर देते हैं। विज्ञापन का दायरा काफी विस्तृत हो चुका है। विज्ञापनों में बौद्धिक और मनोरंजन को बढ़ावा दिया जाता है। कठपुतली बनाकर रंगों और विज्ञापनों से चमत्कारी चीजों को मशहूर कर दिया है। जैसे –

जिस तरह दिखता है वह उस तरह नहीं होता

यह बाजार एक ठोस आध्यात्मिक आधार है इसीलिए चमत्कारों का उत्पादन सबसे बड़ा व्यापार है मसलन शांति नाम का यह आरामदेह सोफा लीजिए जिसके बीच में रखने के लिए यह पारदर्शी मेज है बैठने के कुछ ही बाद प्रकट होता है एक शांत विचार और सुख की नींद के लिए तो यह बिस्तर मशहूर ही है जिसका विज्ञापन करते हुए कई सुंदरियां बूढ़ी हो चली हैं [6]

बाजार का प्रभाव जीवन पर इतना हो गया है कि उसने वास्तविकता को छोड़कर दिखावे को बढ़ावा दिया है। विषैली वस्तुएँ ज्यादा कीमती और उपयोगी हो गई हैं और सांस्कृतिक चीजें अपना महत्व लुप्त कर रही हैं –

धीरे–धीरे बदलता रहा दुकान का चेहरा
पहले एक बोर्ड लगा शीशे का छोटा
थी जिस पर तेंदुलकर की तस्वीर
भीतर कई चमचमाते पोस्टर
अजहर, कुम्बले, जडेजा और श्रीनाथ के
बच्चों की आवक बढ़ती जा रही थी
बिकवाली में नई फरमाइशों की तेजी थी
घट रही थी पुरानी चीजों की मांग और[7]

शहरी सभ्यता हमें केवल चमक–धमक दिखाती है। कवि शहर में घर का दरवाजा जहाँ भी खोलता है वही उसे चारों तरफ बाजार नजर आता है। जिस तरह शरीर में पूरी बीमारी फैलकर जहर बना देती है। उसी तरह यह बाजार भी फैलकर लोगों में जहर से भरी उपयोगी चीजों को उपलब्ध कराते हैं। जैसे –

इस शहर में जब भी खोलता हूँ दरवाजा
वह सीधे खुलता है बाजार में
देखता हूँ मैं शहर एक आधुनिक अखबार की तरह
फैलता जा रहा है जीवन पर[8]

बाजार में ऐसे–ऐसे उपकरण आ गए हैं। जो विस्मरण की चीजें कभी भी स्मृति में लाई जा सकती है। तकनीकी ने उपकरणों को खोजकर बाजार में मुनाफा काफी कमाया है। फोन, इंटरनेट और अन्य उपकरणों पर कभी भी कहीं भी खोजकर इतिहास, मध्य और आधुनिकता को जाना जा सकता है –

अब क्या कहा क्या लिखा जाए हर किसी की स्मृति में ये सारी बातें हैं हालाँकि विस्मृति में जो नए उपकरण खोजे गए हैं उनमें बहुत ताकत है और जो शुद्ध साहित्य है वह विस्मरण का ही एक शातिर औजार है[9]

इक्कीसवीं सदी में हम बिक चुके हैं। ब्राह्मण हमें पत्थर की अंगूठियाँ पहनाकर घर की सुख–शान्ति, जमीन–जायदाद और सन्तान प्राप्ति में फँसा देते हैं। पैसे एठने के चक्कर में तरह–तरह के लालच दिखाए जाते हैं। जैसे –

बँधाती हैं आस
देती है दिलासा
पत्थर की अंगूठियाँ
लाभ होगा कारोबार में
फसाद निबटेंगे
जमीन–जायदाद के
सन्तान का सुख होगा
फँसी रकम लौटेगी
मय ब्याज के
कहती हैं
पत्थर की अंगूठियाँ[10]

कवि अपने बचपन के बाजार को याद करते हुए कहते हैं कि पहले सामान की बिक्री दो गज जमीन पर होती थी। सब्जी की दुकान मुफ्त में ही लग जाती थी, परंतु आज चारों तरफ सामान ही सामान नजर आता है। गलियों में भी घूम–घूमकर बिक्री करके लाभ कमाया जाता है। कवि ऐसी स्थिति पर कहते हैं –

मेरे बचपन में इतवारी बाजार था
एकदम अलग अनुभव के साथ
मैं सौदा–सुलुफ खरीदने के लिए नहीं
उसे बेचने जाता था
मेरे पास दो गज मुफ्त की जमीन थी

जहाँ मैं जमीन पर
सब्जी की दुकान लगाता था
याकि गुड़ की[11]

कवि का मानना है कि हम मनुष्य हैं मशीन नहीं। निर्जीव चीजों के चक्कर में हम धर्म, न्याय और मानवता तक को भी हम दाव पर लगा देते हैं। अपराध व धोखे का धंधा करने से भी हम कतराते नहीं है। हमें सिर्फ पैसा इकट्ठा करने तक का मतलब होता है। उचित और अनुचित का हम निर्णय कर ही नहीं पाते हैं। यह बाजार आत्मा पर भी धब्बा लगा रही है। यहाँ केवल व्यापार ही अंतिम सत्य है–

अब जितनी लंबी हो कथा
अधिक उतना ही बाजार
इसमें जिज्ञासा बनाये रखने का
महारत रखने वाले
पैसा बटोरते हैं
वे धर्म, न्याय, मानवता जैसे पदों का
अपमान की हद तक
इस्तेमाल करते हैं
अपराध का धंधा करने वाले
ये चमकदार शख्स
खलनायक के भेष में भी
अपने को नायक समझते हैं[12]

सत्य बेईमान लगने लगा है। उदारीकरण ने पूरी दुनिया को बाजार में बदल दिया है। बाजारवाद ने ग्रामीण सभ्यता के अस्तित्व को नष्ट करके शहरी सभ्यता के विनाशकारी प्रभाव को उज्जवलित कर दिया है। जैसे –

मैं असंख्य दरख्तों के शवों को देख रहा हूँ
तमाम सुभाषित औंधे मुँह पड़े हैं
बड़े धन्धे, बड़ी रोशनी के लिए अपने यहाँ
खामोश हो जाती हैं अदालत की घण्टियाँ
कोई नहीं कह सकता
तरक्की का आसमान फट जाने के बाद[13]

अध्ययन का उद्देश्य

इस शोधपत्र का उद्देश्य 21वीं सदी में राजनीति और बाजारवाद पर चर्चा करना है।

निष्कर्ष

आज हम जिस संसार में रह रहे हैं, उस पर उपभोक्तावाद अपना कब्जा कर चुका है। औद्योगिक क्रांति से उत्पादन तेजी से बढ़कर ग्राहकों को रिझाने के लिए विज्ञापनों का सहारा ले रहे हैं। बाजार हमें ठग भी रहे हैं। समाज के लोगों को बाजार से अवश्य जुड़ना चाहिए, परंतु पहले स्वयं की रक्षा व सुरक्षा का भी ध्यान रखना होगा।

सन्दर्भ सूची

1. *ब्रजकुमार पांडेय, भूमंडलीकरण, बाजार और संस्कृति, पल–पतिपल (पत्रिका), जून–मार्च 2005,पृ० 159*
2. *मंगलेश डबराल, नये युग में शत्रु, आधुनिक सभ्यता, पृ० 43*
3. *राजेश जोशी, चाँद की वर्तनी, खिलौना, पृ० 106*
4. *चन्द्रकान्त देवताले, खुद पर निगरानी का वक्त, इतने दरख्त और पता तक नहीं खड़कता, पृ० 46–47*
5. *लीलाधर मंडलोई, लिखे में दुक्ख, शेयर, पृ० 39*
6. *मंगलेश डबराल, आवाज भी एक जगह है, बाजार, पृ० 58*
7. *लीलाधर मंडलोई, काल बाँका–तिरछा, तोड़ल बच्चे और दुकान, पृ० 47*
8. *लीलाधर मंडलोई, काल बाँका–तिरछा, कोई क्यों नहीं आता यहाँ, पृ० 75*
9. *उदय प्रकाश, एक भाषा हुआ करती है, चंकी पांडे मुकर गया है, पृ० 30*
10. *राजेश जोशी, धूपघड़ी, पत्थर की अंगूठियाँ, पृ० 69*
11. *लीलाधर मंडलोई, एक बहुत कोमल तान, इतवारी बाजार और ईमान, पृ० 19*
12. *लीलाधर मंडलोई, एक बहुत कोमल तान, अपराध का धंधा, पृ० 63*
13. *चन्द्रकान्त देवताले, पत्थर फेंक रहा हूँ, कठफोड़वा, पृ० 38*